ISSN : 2583-2948

ऋषभ कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी
डॉ बी आर अंबेडकर विश्वविद्यालय
दिल्ली

नव उदारवाद के दौर में शिक्षा का माध्यम

राजस्थान सरकार ने 'महात्मा गांधी अंग्रेजी माध्यम विद्यालय' आरंभ किए हैं। भारत में किसी विद्यालय का ऐसा नाम आश्चर्यचकित करता है। जिस महात्मा ने हमेशा मातृभाषा में शिक्षा का पक्ष लिया, उन्हीं के नाम पर अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय चलाए जा रहे हैं! लेकिन यह कोई एकमात्र अनूठा प्रयोग नहीं है। इस तरह के प्रयोग लगभग हर राज्य में हो रहे हैं। यह स्थिति ऐसे दौर में है जबकि नई शिक्षा नीति में भारतीय भाषाओं को शिक्षण माध्यम बनाने की जोरदार वकालत की गई है। इस नीति में प्राथमिक शिक्षा के लिए मातृभाषा की अनिवार्यता की ओर संकेत किया गया है। भारतीय भाषाओं को ज्ञान-सृजन की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया है। यथार्थ और आदर्श का यह अंतर हमें सोचने को बाध्य करता है कि क्या भारत की शिक्षा में भाषा का सवाल एक 'स्थायी संकट' है जो इस तरह के लोकप्रिय फैसलों के सहारे 'विचार और भाषा' के बुनियादी सिद्धातों को खारिज़ करता है? क्या समकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में भारतीय भाषाओं को शिक्षा जगत में स्वीकार्य बनाया जा सकता है? इन प्रश्नों को हम केवल शिक्षा के माध्यम की भाषा में बदलाव कर संबोधित नहीं कर सकते हैं। शिक्षा और भाषा के सवाल पर विचार करते हुए हमें परिवार, परिवेश और शिक्षा संस्थानों में कार्य कर रही परस्पर विरोधी धाराओं को भी समझना होगा।

हमारी भाषाओं को पहली चुनौती परिवार और परिवेश से ही मिल रही है। हम मानकर चलते हैं कि व्यक्ति मातृभाषा और बोली अपने परिवार और परिवेश से सीख लेगा। जबकि वर्तमान में हमारे परिवारों और परिवेश की भाषा भी अपनी चाल-ढाल और रंग-रूप को बदल रही है। एक पूरी की पूरी पीढ़ी अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित होकर या अंग्रेजी माध्यम में जबरन समाजीकृत होकर अभिभावक की भूमिका में आ गई है। ऐसे परिवार यथाशीघ्र अपने बच्चे को वह भाषा सीखाना चाह रहे हैं जिससे उसके पाल्य की शैक्षिक सफलता, रोजगार और सामाजिक प्रतिष्ठा सुरक्षित हो सके। इस प्रक्रिया में मातृभाषाओं की स्थिति की कल्पना की जा सकती है। बच्चों के खिलौने में बजने वाली तुकबंदी की पंक्तियां हों या एक-दूसरे के प्रति सम्मान जताने वाले रोजमर्रा के शब्द जैसे- थैंक्यू और एक्सक्यूजमी आदि, ये हमारे लिए स्वाभाविक बनते जा रहे हैं। महानगरीय, कामकाजी, एकल परिवारों की संस्कृति के बीच घर की भाषाआंे में औपचारिकता का पक्ष अधिक हावी हो गया है। इनके माध्यम से बच्चे भाषा के रास्ते हृदय और भावनाओं को जानने के बदले समाज के शक्ति संबंधों और संसाधनों के वितरण की अनुकूलता के उपायों को सीख रहे हैं। ये उपाय तात्कालिक और प्रयोजनमूलक हो सकते हैं लेकिन दीर्घकाल में सांस्कृतिक विस्मृति का कारण बनेंगे।

शिक्षा में भाषा से जुड़े सवालों पर चर्चा करते हुए सीखने की सुगमता, सृजनशीलता के संवर्धन और सांस्कृतिक विरासत के प्रसार जैसे तर्कों के नाम पर मातृभाषा का पक्ष लिया जाता है वहीं दूसरी ओर आर्थिक अवसरों का लाभ लेने के लिए भाषायी शक्ति का उपयोग करने हेतु अन्य भाषाओं के अर्जन को एक महत्वपूर्ण निवेश माना जाता है। प्रायः हम इन दोनों प्रवृत्तियों को एक दूसरे के

समांतर चलने वाली प्रक्रिया मान लेते हैं। जबकि ये प्रवृत्तियां दो भाषाओं का समांतर पथ न होकर एक पदानुक्रम है, जहां भारतीय भाषाएं निचले पायदान पर हैं। हम इन्हें उतना ही सीखना चाहते हैं जिसके माध्यम से कामचलाऊं संवाद कर सकें लेकिन सृजन, समस्या-समाधान और बौद्धिक तर्कों के लिए अधिक संज्ञानात्मक निवेश करके दूसरी भाषा का अर्जन करने के लिए तैयार रहते हैं। भारतीय भाषाओं के संदर्भ में शिक्षा नीतियों और हस्तक्षेपों के स्तर पर देखें तो ये नीतियां औपनिवेशीकरण के दबाव से मुक्त होने की छटपटाहट में वैश्वीकरण और नवउदारवाद के भ्रम-जाल में फंस चुकी हैं। लेख के आरंभ में जिस प्रकरण की चर्चा की गई है, वह इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। आज़ादी के बाद देखा जाए तो हमने अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई नौकरशाही की कार्यप्रणाली को यथावत् स्वीकार कर लिया। हमने पूंजी सघन उत्पादन पद्धतियों और नगरीकरण आधारित विकास के मॉडल को बेहतर माना। हमारे लिए तकनीकी प्रगति और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान ऐसे सांस्कृतिक पूंजी बन गए जो स्वतंत्रता के बाद पैदा हो रहे अवसरों में व्यक्तिगत विकास के माध्यम हो सकते थे। इस प्रवृत्ति से शिक्षा और भाषा भी अछूते नहीं रहे। हमने 'श्रेष्ठ' शिक्षा के विद्यालय स्तर और उच्च शिक्षा स्तर पर जो संस्थान खोले उनमें से अधिकांश ने भाषायी माध्यम के रूप में अंग्रेजी को स्वीकार किया। इसके प्रभाव में हमारे देश में ऐसे नागरिकों को 'आदर्श एवं उत्पादक' माना गया जिन्हें कम से कम दो भाषाओं की जानकारी हों। इनमें से एक भाषा अनिवार्यतः अंग्रेजी थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमने शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की। राजनीतिक दृष्टि से भाषायी अस्मिता को बल मिलने और राष्ट्र-बोध की प्रवृत्ति के साथ इसके तालमेल ने मातृभाषा और हिंदी की महत्ता को स्वीकार्य बनाया। प्रत्येक शैक्षिक सुधार के साथ इस तथ्य की स्वीकृति बनी कि कम से कम विद्यालय स्तर पर भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए। परिणामस्वरूप 'सरकारी विद्यालयों' में भारतीय भाषाओं का स्थान बढ़ गया। लेकिन जनशिक्षा के लिए भारतीय भाषाओं की इस सुलभता को हम शैक्षिक गुणवत्ता में बदलने में सफल नहीं रहे। समय के साथ-साथ सरकारी शालाओं की गुणवत्ता में क्षय के बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। इस कारण आम जनता का सरकारी शालाओं से मोहभंग हुआ। इसका लाभ उठाते हुए ऐसे निजी विद्यालयों का उभार हुआ जो अंग्रेजी भाषा में अच्छी शिक्षा का वादा करते हैं। अंततः हमारी शिक्षा व्यवस्था में भाषायी आधार पर भी स्पष्ट विभाजन हो गया है। इसमें एक ओर अंग्रेजी माध्यम के अच्छे विद्यालय हैं तो दूसरी ओर भारतीय भाषाओं के माध्यम से संचालित होने वाले कामचलाऊ विद्यालय। ये दो तरह की संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जहां पहली को एक बेहतर विकल्प माना जा चुका है। इसी कारण हमारे देश में 'महात्मा गांधी अंग्रेजी माध्यम विद्यालय' जैसी असंभव प्रतीत होने वाली परिकल्पना साकार हो रही है जो इस तथ्य को पुनर्बलित करती है कि यदि आपको वैश्वीकरण जनित आर्थिक लाभों को उठाना चाहते हैं तो अंग्रेजी ही एक मात्र विकल्प है। आजादी के समय जहां यह तर्क पाश्चात्य आधुनिकता के मोहपाश में बंधा था वहीं अब यह 'नवउदारवाद' की शर्त बन गया है। इन परिस्थितियों के कारण आज़ादी के पचहत्तर वर्षों बाद मूल प्रश्न ज्यों का त्यों है कि क्या भाषायी वर्चस्व और विदेशी भाषा को शक्ति-स्रोत के रूप देखने की प्रवृत्ति से हम कभी मुक्त हो पाएंगें?